जैन-आचार में उत्सर्ग-मार्ग और अपवाद-मार्ग

उत्सर्ग और अपवाद

जैन आचार्यों ने आचार सम्बन्धी जो विभिन्न विधि-निषेध प्रस्तुत किये हैं वे निरपेक्ष नहीं हैं। देश-काल और व्यक्ति के आधार पर उनमें परिवर्तन सम्भव हो सकता है। आचार के जिन नियमों का विधि-निषेध जिस सामान्य स्थिति को ध्यान में रखकर किया गया है उसमें वे आचार के विधि-निषेध यथावत् रूप में पालनीय माने गये हैं, किन्तु देश-काल, परिस्थिति अथवा वैयक्तिक परिस्थितियों की भिन्नता में उनमें परिवर्तन भी स्वीकार किया गया है। व्यक्ति और देश-कालगत सामान्य परिस्थितियों में जिन नियमों का पालन किया जाता है वे उत्सर्ग-मार्ग कहे जाते हैं किन्तु जब देशकालगत और वैयक्तिक विशेष परिस्थितियों में उन सामान्य विधि-निषेधों को शिथिल कर दिया जाता है तो उसे अपवाद-मार्ग कहा जाता है। वस्तुत: आचार के सामान्य नियम उत्सर्ग-मार्ग कहे जाते हैं और विशिष्ट नियम अपवाद-मार्ग कहे जाते हैं। दोनों की व्यावहारिकता परिस्थिति-सापेक्ष होती है। जैन आचार्यों की मान्यता रही है कि सामान्य परिस्थितियों में उत्सर्ग-मार्ग का अवलम्बन किया जाना चाहिए किन्तु देशकाल, परिस्थिति अथवा व्यक्ति के स्वास्थ्य एवं क्षमता में किसी विशेष परिवर्तन के आ जाने पर अपवाद-मार्ग का अवलम्बन किया जा सकता है। यहाँ इस तथ्य को भी स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि अपवाद-मार्ग का सम्बन्ध केवल आचरण सम्बन्धी बाह्य विधि-निषेधों से होता है और आपवादिक परिस्थिति में किये गये सामान्य नियम के खण्डन से न तो उस नियम का मूल्य कम होता है और न सामान्य रूप से उसके आचरणीय होने पर कोई प्रभाव पड़ता है। जहाँ तक आचार के आन्तरिक पक्ष का प्रश्न है, जैनाचार्यों ने उसे सदैव निरपेक्ष या उत्सर्ग के रूप में स्वीकार किया है। हिंसा का विचार या हिंसा की भावना किसी भी परिस्थिति में नैतिक या आचरणीय नहीं मानी जाती। जिस सम्बन्ध में अपवाद की चर्चा की जाती है वह अहिंसा के बाह्य विधि-निषेधों से सम्बन्धित होता है। मान लीजिए कि हम किसी निरपराध प्राणी का जीवन बचाने के लिए अथवा किसी स्त्री का शील सुरक्षित रखने के लिए हिंसा अथवा असत्य का सहारा लेते हैं तो इससे अहिंसा या सत्यसम्भाषण का सामान्य नैतिक आदर्श समाप्त नहीं हो जाता। अपवाद-मार्ग न तो कभी मौलिक एवं सार्वभौमिक नियम बनता है और न अपवाद आचरण का कारण माना जाता है, उसी प्रकार अनुज्ञा के अनुसार अर्थात् अपवाद-मार्ग पर चलने पर भी आचरण को विशुद्ध ही माना जाना चाहिए। यदि ऐसा न माना जाता तब तो एकमात्र उत्सर्ग-मार्ग पर ही चलना अनिवार्य हो जाता, फलस्वरूप अपवाद-मार्ग का अवलम्बन करने के लिए कोई भी किसी भी परिस्थिति में तैयार ही न होता। परिणाम यह होता कि साधना-मार्ग में केवल जिनकल्प को ही मानकर चलना पड़ता। किन्तु जब से साधकों के संघ एवं गच्छ बनने लगे, तब से केवल औत्सर्गिक मार्ग अर्थात् जिनकल्प संभव नहीं रहा। अतएव स्थविरकल्प में यह अनिवार्य हो गया कि जितना "प्रतिषेध" का पालन आवश्यक है, उतना ही आवश्यक "अनुज्ञा" का आचरण भी है। बल्कि परस्थितिविशेष में "अनुज्ञा" के अनुसार आचण नहीं करने पर प्रायश्चित्त का भी विधान करना पड़ा है। जिस प्रकार प्रतिषेध का भंग करने पर प्रायश्चित्त है उसी प्रकार अपवाद का आचरण नहीं करने पर भी प्रायश्चित्त है अर्थात् "प्रतिषेध" और "अनुज्ञा" उत्सर्ग और अपवाद दोनों ही समबल माने गये हैं। दोनों में ही विशुद्धि है। किन्तु यह भी नहीं भूलना चाहिए कि उत्सर्ग राजमार्ग है, जिसका अवलम्बन साधक के लिए सहज है, किन्तु अपवाद, यद्यपि आचरण में सरल है, तथापि सहज नहीं है।"[१]

वस्तुत: जीवन में नियमों-उपनियमों की जो सर्व सामान्य विधि होती है वह उत्सर्ग और जो विशेष विधि है वह अपवाद-विधि है। उत्सर्ग सामान्य अवस्था में आचरणीय होता है और अपवाद विशेष संकटकालीन अवस्था में। यद्यपि दोनों का उद्देश्य एक ही होता है कि साधक का संयम सुरक्षित रहे। समर्थ साधक के द्वारा संयम-रक्षा के लिए जो अनुष्ठान किया जाता है वह उत्सर्ग है और असमर्थ साधक के द्वारा संयम की रक्षा के लिए ही उत्सर्ग से विपरीत जो अनुष्ठान किया जाता है वह अपवाद है। अनेक परिस्थितियों में यह स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि व्यक्ति उत्सर्ग-मार्ग के प्रतिपालन के द्वारा संयम और ज्ञानादि गुणों की सुरक्षा नहीं कर पाता तब उसे अपवाद-मार्ग का ही सहारा लेना होता है। यद्यपि उत्सर्ग और अपवाद परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं किन्तु लक्ष्य की दृष्टि से विचार करने पर उनमें वस्तुत: विरोध नहीं होता है। दोनों ही साधना की सिद्धि के लिए होते है, उसकी सामान्यता एवं सार्वभौमिकता खण्डित होती है। उत्सर्गमार्ग को सार्वभौम कहने का तात्पर्य भी यह नहीं है कि अपवाद का कोई स्थान नहीं है। उसे सार्वभौम कहने का तात्पर्य इतना ही है कि सामान्य परिस्थितियों में उसका ही आचरण किया जाना चाहिए। उत्सर्ग और अपवाद दोनों की आचरणीयता परिस्थिति-सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं। यह उस परिस्थिति पर निर्भर होता है कि व्यक्ति उसमें उत्सर्ग का अवलम्बन ले या अपवाद का। कोई भी आचार, परिस्थिति निरपेक्ष नहीं हो सकता। अत: आचार के नियमों के परिपालन में परिस्थिति के विचार को सम्मिलित किया गया है। फलत: अपवाद-मार्ग की आवश्यकता स्वीकार की गई है।

जैन-संघ में अपवाद-मार्ग का कैसे विकास हुआ? इस सम्बन्ध में पं० दलसुख भाई मालवणिया का कथन है कि आचारांग में निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थी संघ के कर्तव्य और अकर्तव्य के मौलिक उपदेशों का संकलन है किन्तु देश-काल अथवा क्षमता आदि के परिवर्तित होने से उत्सर्ग-मार्ग पर चलना कठिन हो जाता है। अस्तु ऐसी स्थिति में आचारांग की ही निशीथ नामक चूला में उन आचार-नियमों के विषय में जो वितथकारी हैं उनका प्रायश्चित्त बताया गया है। अपवादों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का मूल सूत्रों में कोई विशेष निर्देश नहीं है। किन्तु निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि आदि में स्थान-स्थान पर विस्तृत वर्णन है। जब एक बार यह स्वीकार कर लिया जाता है कि आचार के नियमों की व्यवस्था के सन्दर्भ में विचारणा को अवकाश है तब परिस्थिति को देखकर मूलसूत्रों के विधानों में अपवादों की सृष्टि करना गीतार्थ आचार्यों के लिए सहज हो जाता है। उत्सर्ग और अपवाद के बलाबल के सम्बन्ध में विचार करते हुए पं० जी पुनः लिखते हैं कि "संयमी पुरुष के लिए जितने भी निषिद्ध कार्य न करने योग्य कहे गये है, वे सभी "प्रतिषेध" के अन्तर्गत आते हैं और जब परिस्थितिविशेष में उन्हीं निषिद्ध कार्यों को करने की "अनुज्ञा" दी जाती है, तब वे ही निषिद्ध कर्म "विधि" बन जाते हैं। परिस्थिति विशेष में अकर्तव्य भी कर्तव्य बन जाता है, किन्तु प्रतिषेध को विधि में परिणत कर देने वाली परिस्थिति का औचित्य और परीक्षण करना, साधारण साधक के लिए सम्भव नहीं है। अतएव ये "अपवाद", "अनुज्ञा" या "विधि" सब किसी को नहीं बताये जाते। यही कारण है कि "अपवाद" का दूसरा नाम "रहस्य" (नि०चू०, गा०४९५) पड़ा है। इससे यह भी फलित हो जाता है कि जिस प्रकार "प्रतिषेध" का पालन करने से आचरण विशुद्ध माना जाता है, उसी प्रकार अनुज्ञा के अनुसार अर्थात् अपवाद-मार्ग पर चलने पर भी आचरण को विशुद्ध ही माना जाना चाहिए। (देखें निशीथ एक अध्ययन, पृ० ५४) प्रशमरति में उमास्वाति[२] स्पष्ट रूप से कहते हैं कि परिस्थितिविशेष में जो भोजन, शय्या, वस्त्र, पात्र एवं औषधि आदि ग्राह्य होती है वही परिस्थिति विशेष में अग्राह्य हो जाती है और जो अग्राह्य होती है वही ग्राह्य हो जाती है, निशीथ-भाष्य[३] में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि समर्थ साधक के लिए उत्सर्ग स्थिति में जो द्रव्यादि निषिद्ध माने जाते हैं वे असमर्थ साधक के लिए आपवादिक स्थिति में ग्राह्य हो जाते हैं। सत्य यह है कि देश, काल, रोग आदि के कारण कभी-कभी जो अकार्य होता है वह कार्य बन जाता है और जो कार्य होता है वह अकार्य बन जाता है। उदाहरण के रूप में सामान्यतया ज्वर की स्थिति में भोजन निषिद्ध माना जाता है किन्तु वात, श्रम, क्रोध, शोक और कामादि से उत्पन्न ज्वर में लंघन हानिकारक माना जाता है।

उत्सर्ग और अपवाद की इस चर्चा में स्पष्ट रूप से एक बात सबसे महत्त्वपूर्ण है वह यह कि दोनों ही परिस्थिति-सापेक्ष हैं और इसलिए दोनों ही मार्ग हैं, उन्मार्ग कोई भी नहीं है। यद्यपि यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि यह कैसे निर्णय किया जाये कि किस व्यक्ति को उत्सर्ग-मार्ग पर चलना चाहिए और किसको अपवाद मार्ग पर। इस सम्बन्ध में जैनाचार्यों की दृष्टि यह रही है कि साधक को सामान्य स्थिति में उत्सर्ग का अवलम्बन करना चाहिए, किन्तु यदि वह किसी विशिष्ट परिस्थिति में फँस गया है जहाँ उसके उत्सर्ग के आलम्बन से स्वयं उसका अस्तित्व खतरे में पड़ सकता है तो उसे अपवाद-मार्ग का सेवन करना चाहिए फिर भी यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि अपवाद का आलम्बन किसी परिस्थितिविशेष में ही किया जाता है और उस परिस्थितिविशेष की समाप्ति पर साधक को पुनः उत्सर्ग-मार्ग का निर्धारण कर लेना चाहिए। परिस्थितिविशेष उत्पन्न होने पर जो अपवाद मार्ग का अनुसरण नहीं करता उसे जैन आचार्यों ने प्रायश्चित्त का भागी बताया है किन्तु जिस परिस्थिति में अपवाद का अवलम्बन लिया गया था उसके समाप्त हो जाने पर भी यदि कोई साधक उस उपवाद मार्ग का परित्याग नहीं करता है तो वह भी प्रायश्चित्त का भागी होता है। कब उत्सर्ग का आचरण किया जाये और कब अपवाद का? इसका निर्णय देश-कालगत परिस्थितियों अथवा व्यक्ति के शरीर-सामर्थ्य पर निर्भर होता है। एक बीमार साधक के लिए अकल्प्य आहार एषणीय माना जा सकता है किन्तु उसके स्वस्थ हो जाने पर वही आहार उसके लिए अनैषणीय हो जाता है।

यहाँ यह प्रश्न भी स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि साधक कब अपवाद-मार्ग का अवलम्बन करे? और इसका निश्चय कौन करे? जैनाचार्यों ने इस सन्दर्भ में गीतार्थ की आवश्यकता अनुभव की और कहा कि गीतार्थ को ही यह अधिकार होता है कि वह साधक को उत्सर्ग या अपवाद किसका अवलम्बन लेना है, निर्णय दे। जैन-परम्परा में गीतार्थ उस आचार्य को कहा जाता है जो देश, काल और परिस्थिति को सम्यक् रूप से जानता हो और जिसने निशीथ, व्यवहार, कल्प आदि छेदसूत्रों का सम्यक् अध्ययन किया हो। साधक को उत्सर्ग और अपवाद में किसका अनुसरण करना है? इसके निर्देश का अधिकार गीतार्थ को ही है। जहाँ तक उत्सर्ग और अपवाद इन दोनों में कौन श्रेय है और कौन अश्रेय अथवा कौन सबल है और कौन निर्बल है? इस समस्या के समाधान का प्रश्न है, जैनाचार्यों के अनुसार दोनों ही अपनी-अपनी परिस्थितियों के अनुसार श्रेय व सबल हैं। आपवादिक परिस्थिति में अपवाद को श्रेय और सबल माना गया है किन्तु सामान्य परिस्थिति में उत्सर्ग को श्रेय एवं सबल कहा गया है। बृहत्कल्पभाष्य[४] के अनुसार ये दोनों (उत्सर्ग और अपवाद) अपने-अपने स्थानों में श्रेय व सबल होते हैं। इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए बृहत्कल्पभाष्य[५] की पीठिका में कहा गया है कि जो साधक स्वस्थ एवं समर्थ है उसके लिए उत्सर्ग स्वस्थान है और अपवाद परस्थान है। जो अस्वस्थ एवं असमर्थ है उसके लिए अपवाद स्वस्थान है और उत्सर्ग परस्थान है। वस्तुतः जैसा कि हम पूर्व में सूचित कर चुके हैं। यह सब व्यक्ति की सामर्थ्य एवं परिस्थितियों पर निर्भर करता है कि कब आचरणीय अनाचरणीय एवं अनाचरणीय आचरणीय हो जाता है। कभी उत्सर्ग का पालन उचित होता है तो कभी अपवाद का। वस्तुतः उत्सर्ग और अपवाद की इस समस्या का समाधान उन परिस्थितियों में कार्य करने वाले व्यक्ति के स्वभाव का विश्लेषण कर किये गये निर्णय में निहित है। वैसे तो उत्सर्ग और अपवाद के सम्बन्ध में भी कोई सीमा-रेखा निश्चित कर पाना कठिन है, फिर भी जैनाचार्यों ने कुछ आपवादिक परिस्थितियों का उल्लेख कर यह बताया है कि उनमें किस प्रकार का आचरण किया जाये।

सामान्यतया अहिंसा को जैन-साधना का प्राण कहा जा सकता है। साधक के लिए सूक्ष्म से सूक्ष्म हिंसा भी वर्जित मानी गई है। किन्तु जब कोई विरोधी व्यक्ति आचार्य या संघ के वध के लिए तत्पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो, किसी साध्वी का बलपूर्वक अपहरण करना चाहता हो और वह उपदेश से भी नहीं मानता हो तो ऐसी स्थिति में भिक्षु, आचार्य, संघ अथवा साध्वी की रक्षा के लिए पुलाकलब्धि का प्रयोग करता हुआ भी साधक संयमी माना गया है।

सामान्यतया श्रमण साधक के लिए वानस्पतिक जीवों अथवा अप्कायिक जीवों के स्पर्श का भी निषेध है किन्तु जीवन-रक्षा के लिए इन नियमों के अपवाद स्वीकार किये गये है। जैसे पर्वत से फिसलते समय भिक्षु वृक्ष की शाखा या लता आदि का सहारा ले सकता है। जल में बहते हुए साधु या साध्वी की रक्षा के लिए नदी आदि में उतर सकता है।

इसी प्रकार उत्सर्ग-मार्ग में स्वामी की आज्ञा-बिना भिक्षु के लिए एक तिनका भी अग्राह्य है। दशवैकालिक[६] के अनुसार श्रमण अदत्तादान को न स्वयं ग्रहण कर सकता है, न दूसरों से ग्रहण करवा सकता है और न अदत्त ग्रहण करने वाले का अनुमोदन ही कर सकता है। परन्तु परिस्थितिवश अपवाद-मार्ग में भिक्षु के लिए अयाचित स्थान आदि ग्रहण के उल्लेख हैं। जैसे भिक्षु भयंकर शीतादि के कारण या हिंसक पशुओं का भय होने पर स्वामी की आज्ञा लिए बिना ही ठहरने योग्य स्थान पर ठहर जाए तत्पश्चात् स्वामी की आज्ञा प्राप्त करने का प्रयत्न करे।[७]

जहाँ तक ब्रह्मचर्य सम्बन्धी अपवादों का प्रश्न है उस पर हमें दो दृष्टियों से विचार करना है। जहाँ अहिंसा, सत्य आदि व्रतों में अपवाद-मार्ग का सेवन करने पर बिना तप-प्रायश्चित के भी विशुद्धि सम्भव मानी गई है वहाँ ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में तप-प्रायश्चित्त के बिना विशुद्धि को सम्भव नहीं माना गया है। ऐसा क्यों किया गया इस सम्बन्ध में जैनाचार्यों का तर्क है कि हिंसा आदि में राग-द्वेषपूर्वक और रागद्वेष रहित दोनों ही प्रकार की प्रतिसेवना सम्भव है और यदि प्रतिसेवना रागद्वेष से रहित है तो उसके लिए विशेष प्रायश्चित्त नहीं है किन्तु मैथुन का सेवन राग के अभाव में नहीं होता, अत: ब्रह्मचर्य व्रत की स्खलना में तप-प्रायश्चित्त अपरिहार्य है। जिस स्खलना पर तप-प्रायश्चित्त का विधान हो उसे अपवाद-मार्ग नहीं कहा जा सकता। निशीथ भाष्य के आधार पर पं० दलसुख भाई मालवणिया का कथन[८] है कि यदि हिंसा आदि दोषों का सेवन संयम के रक्षण हेतु किया जाय तो तप प्रायश्चित्त नहीं होता किन्तु अब्रह्मचर्य सेवन के लिए तो तप या छेद प्रायश्चित्त आवश्यक है।

यद्यपि ब्रह्मचर्य व्रत की स्खलना पर प्रायश्चित्त का विधान होने से ब्रह्मचर्य का कोई अपवाद स्वीकार नहीं किया गया है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जैनाचार्यों ने उन सब परिस्थितियों पर विचार नहीं किया है जिनमें कि जीवन की रक्षा अथवा संघ की प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखने के लिए शीलभंग हेतु विवश होना पड़े। निशीथ[९] और बृहत्कल्पभाष्य[१०] में यह उल्लेख है कि यदि ऐसा प्रसंग उपस्थित हो जहाँ शीलभंग और जीवन-रक्षण में से एक ही विकल्प हो तो ऐसी स्थिति में श्रेष्ठ तो यही है कि व्यक्ति मृत्यु को स्वीकार करे और शीलभंग न करे किन्तु जो मृत्यु को स्वीकार करने में असमर्थ होने के कारण शीलभंग करे तो इस स्थिति में शीलभंग करने वाले भिक्षु के मनोभावों को लक्ष्य में रखकर ही प्रायश्चित्त का निर्धारण किया जाता है।

जैनाचार्यों ने ब्रह्मचर्य की सुरक्षा पर सर्वाधिक बल दिया। इसलिए उन्होंने न केवल मैथुन-सेवन का निषेध किया अपितु भिक्षु के लिए नवजात कन्या का और भिक्षुणी के लिए नवजात शिशु का स्पर्श भी वर्जित कर दिया। आगमों में उल्लेख है कि भिक्षुणी को कोई भी पुरुष चाहे वह उसका पुत्र या पिता ही क्यों न हो, स्पर्श नहीं करे किन्तु अपवाद रूप में यह बात स्वीकार की गई कि नदी में डूबती हुई या विक्षिप्त-चित्त भिक्षुणी को भिक्षु स्पर्श कर सकता है। इसी प्रकार सर्पदंश या काँटा लग जाने पर उसकी चिकित्सा का कोई अन्य उपाय न रह जाने पर भिक्षु या भिक्षुणी परस्पर एक दूसरे की सहायता कर सकते हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि उक्त अपवाद ब्रह्मचर्य के खण्डन से सम्बन्धित न होकर स्त्री-पुरुष के परस्पर स्पर्श से सम्बन्धित है। निशीथ भाष्य और बृहत्कल्पभाष्य के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि जैनाचार्यों ने ब्रह्मचर्य की सुरक्षा पर कितनी गहराई से विचार किया। जैनाचार्यों ने इस प्रश्न पर भी विचार किया कि एक ओर व्यक्ति शीलभंग नहीं करना चाहता किन्तु दूसरी ओर वासना का आवेग इतना तीव्र होता है कि वह अपने पर संयम नहीं रख पाता। ऐसी स्थिति में क्या किया जाये?

ऐसी स्थिति में जैनाचार्यों ने सर्वनाश की अपेक्षा अर्द्ध-विनाश की नीति को भी स्वीकार किया है। इसी प्रसंग में जैनाचार्यों ने यह उपाय भी बताया है कि ऐसे भिक्षु अथवा भिक्षुणी को अध्ययन, लेखन, वैयावृत्य आदि कार्यों में इतना व्यस्त कर दिया जाये कि उसके पास काम-वासना जगने का समय ही न रहे। इस प्रकार उन्होंने काम-वासना पर विजय प्राप्त करने के उपाय भी बताए।

सामान्यतया भिक्षु के लिए परिग्रह के पूर्णत: त्याग का विधान है और इसी आधार पर अचेलता की प्रशंसा की गई है। सामान्यत: आचारांग आदि सूत्रों में भिक्षु के लिए अधिकतम तीन वस्त्र और अन्य परिमित उपकरण रखने की अनुमति है किन्तु यदि हम मध्यकालीन जैन-साहित्य का और साधु-जीवन का अध्ययन करें तो यह स्पष्ट लगता है कि धीरे-धीरे भिक्षु-जीवन में रखने योग्य वस्तुओं की संख्या बढ़ती गई है। अन्य भी आचार सम्बन्धी कठोरतम नियम स्थिर नहीं रह सके हैं। अत: आपवादिक रूप में कई अकरणीय कार्यों का करना भी विहित मान लिया गया है जो सामान्यतया निन्दित माने जाते थे। अपवाद-मार्ग के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा निशीथ भाष्य एवं निशीथ-चूर्णि आदि में उपलब्ध हैं। साथ ही पं० दलसुखभाई मालवणिया ने अपने ग्रन्थ "निशीथ:एक अध्ययन"[११] में एवं उपाध्याय अमरमुनिजी ने निशीथ चूर्णि[१२] के तृतीय भाग की भूमिका में इसका विस्तार से विवेचन किया है। इसी प्रकार निशीथ सूत्र हिन्दी विवेचन में भी उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का स्वरूप समझाया गया है।[१३] जिज्ञासु पाठक उसे वहाँ देख सकते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org